श्री आत्मानंद जैन ट्रैक्ट सोसायटी अंबाला शहरकी

नियमावली ।

१. इसका मेम्बर हरएक हो सक्ता है ।

२. फीस मेम्बरी कमसे कम १) रुपया वार्षिक है । अधिक देनेका हरएकको अधिकार है । जो महाशय इस सोसायटीको ५०) रुपये एक साथ देंगे वह इसके लाईफ मेम्बर समझे जायेंगे और वार्षिक चंदा उनसे कुछ नहीं लिया जायगा ।

३. इस सोसायटीका वर्ष १ जनवरीसे प्रारंभ होता है । जो महाशय मेम्बर होंगे वे चाहे किसी महीनेमें मेम्बर बने हों किन्तु चंदा उनसे ता० १ जनवरीसे ३१ दिसंबर तकका लिया जायगा ।

४. जो महाशय अपने खर्चसे कोई ट्रैक्ट इस सोसायटी द्वारा प्रकाशित कराकर विना मूल्य वितीर्ण कराना चाहे उनका नाम ट्रैक्ट पर छपवाया जायगा ।

५. जो ट्रैक्ट यह सोसायटी छपवाया करेगी वे हरएक मेम्बरके पास विनामूल्य भेजे जाया करेंगे ।

निवेदक—

सेक्रेटरी ।

ॐ

नमः श्रीवीतरागाय ।

'ह्रीं' और 'श्रीं' पर विचार ।

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिता सिद्धाश्चसिद्धिस्थिता,
आचार्याजिनशासनोन्नतिकराःपूज्या उपाध्यायकाः॥
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवरा रत्नत्रयाराधकाः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥१॥
उत्सर्पद् व्यवहारनिश्चयकथा कल्लोलकोलाहल,
त्रस्यद्दुर्नयवादिकच्छपकुलं भ्रश्यत्कुपक्षाचलम् ॥
उद्यद्युक्तिनदीप्रवेशसुभगं स्याद्वादमर्यादया,
युक्तं श्रीजिनशासनं जलनिधिं मुक्त्वा परं नाश्रये ॥२॥

प्रिय महोदयगण ! ऊपरके दो काव्योंमेंसे प्रथमके काव्यमें पंच परमेष्ठीसे मङ्गल करनेकी प्रार्थना की गई है, और दूसरे श्लोकमें जिन शासनके अवलम्बनसे वह पञ्चपरमेष्ठी आत्मोन्नतिके उच्चासन

" अपारे संसारे कथमपि समासाद्य नृभवं ।
न धर्मं यः कुर्याद्विषयसुखतृष्णा तरलितः ॥
ब्रुडन् पारावारे प्रवरमपहाय प्रवहणं ।
स मुख्यो मूर्खाणामुपलमुपलब्धुं प्रयतते ॥ १ ॥

अर्थ—इस अपार संसारमें बड़े कष्टसे प्राप्त करने योग्य मनुष्यजन्मको पाकर जो मनुष्य विषयसुखकी तृष्णासे प्रेरित हुआ धर्म नहीं करता वह सागरमें डूबता हुआ भी प्राप्त प्रवहण (जहाज़) को छोड़कर महा मूर्ख पत्थरको उपलब्ध करनेकी चेष्टा करता है, अतः धर्ममें दत्तचित्त होना चाहिये, परन्तु धर्म साधनके लिये अनेक मत प्रचलित हैं उनमेंसे किस मतका आलम्बन लेना योग्य है ?

यह स्वाभाविक प्रश्न निर्पक्ष मनुष्योंके हृदयको संकल्पमय बना देता है, अत उनके संकल्पोंको दूर कर उनके निर्पक्ष चित्तको सार्वधर्म (सर्वज्ञ धर्म) की ओर आकर्षित करनेके लिये आज मैं अपने व्याख्यानका विषय "ही" और "भी" शब्दों पर रक्खूंगा, जिससे अन्य धर्म और जैनधर्ममें क्या भेद है, यह सम्यक्तया मालूम हो जायगा, हमारे श्रोतृगणको आजके व्याख्यानका विषय

सुनकर आश्चर्य होता होगा कि "ही" और "भी" यह क्या विषय है ? पर महानुभावो चकित न होना, लो अभी "ही" इस विषयको परिस्फुट करता हूं, जगत्के संपूर्ण दर्शनों (मतों) का समावेश "ही" में और जैनदर्शनका "भी" में होगा, यह मेरा पूर्ण विश्वास है कि जो लोग आज इस निर्पक्ष व्याख्यानको सुनेंगे, यदि पक्षपातमें अन्ध न होंगे, तो अवश्य समझ जायंगे, कि हां जैनधर्म सर्वमतोंका धर्म और सबको पालन करने योग्य है, जिसमें द्वेषका लेश भी नही है, परन्तु जो पक्षपातमें अन्ध बने हैं, उनको किंचित् भी लाभ होना असंभव है, चाहे पक्षपातमें अन्ध कहो, कदाग्रही कहो, हठी कहो, एक ही बात है, इन लोकोंको लाभ नहीं पहुंच सकता, इतना ही नही बल्कि लाभकी जगह हानि पहुंचती है, इसी लिये ऐसे पुरुषोंको उपदेश देने वालेको भी मूढ कहा है, देखिये ।

असद्ग्रहग्रस्तमते प्रदत्ते हितोपदेशं खलु यो विमूढः ।
शुनीशरीरेसमहोपकारी कस्तूरिकालेपनमादधाति ॥

अर्थ—जो पुरुष कदाग्रहमें ग्रस्त मति वाले पुरुषको उपदेश

देता है वह मूढ कुत्तीके शरीर पर कस्तूरिका लेपन करता है (श्लोकमें महोपकारी यह पद हास्यगर्भित है) इससे स्पष्ट होगया कि कदाग्रहीको किञ्चित् लाभ न होगा, अतः मै निष्पक्षोंके लिये समझा रहा हूं कि—

हे नररत्नो ! अब सुनिये, जब दूसरे धर्मवाले किसी तत्त्वका वर्णन करते हैं तो यह ऐसे "ही" है ऐसा कहकर एक कारक प्रयोग करते हैं तो हम लोग यह ऐसे "भी" है ऐसा कह कर स्यात् कथंचित इत्यादि शब्दोंका प्रयोग करते हैं और इसी स्यात् शब्दके प्रयोगको प्रति वस्तुके कथनमें साधु समझनेके कारण लोक हमको स्याद्वादी कहते है, अथवा हम स्वयं कहलाते हैं। एक एक पदार्थमें अनंत धर्मोके रहनेसे स्याद्वादके माने विना किसीका भी निर्वाह नहीं हो सकता, जैसे किसी जिनदत्त नामक पुरुषका पुत्र व्रतानन्द है और उसका पुत्र संयमीदास है, इस रीतिसे संयमीदास जिनदत्तका पौत्र और व्रतानन्दका पुत्र हुआ, अब इस व्रतानन्दमें जिनदत्तकी अपेक्षा पुत्रत्व धर्म रहता है परन्तु यहांपर इसमें पुत्रत्व धर्म " ही " रहता है ऐसा नही

कह सकते, क्योंकि अपने पुत्र सत्यमीदासकी अपेक्षा व्रतानन्दमें पितृत्व धर्म "भी" रहता है, और व्रतानन्दमे पुत्रत्व धर्म "भी" है ऐसा कहना युक्तिसिद्ध हो सकता है न कि इसमें पुत्रत्व धर्म ही है ऐसा कथन इस रीतिसे एक ही व्रतानन्दमें पुत्रत्व, पितृत्व, मित्रत्व, भागिनयत्व, मातुलत्व, पितृव्यत्व, भ्रातृनत्व, आदि आदि अनेक धर्म परस्पर विरुद्ध होने पर भी भिन्न भिन्न अपेक्षासे रह सकते हैं ॥ और "नैकस्मिन्न संभवात्" व्यासजी के रचे हुए शारीरिक सूत्र पर स्याद्वादके खंडनके लिये शंकराचार्यकी लेखनी उठाना अज्ञान मूलक था, ठीक कहें तो यही बात थी कि पक्षपात-रूप उपनेत्र (चश्में) चढ़ा बैठे थे, इसलिये स्याद्वादका असली स्वरूप देख नहीं सके, यदि सम्यक् प्रकारसे इसका स्वरूप समझ लेते, तो सम्पूर्ण अपनी कार्यवाहीको छोडकर मुझे विश्वास है कि स्याद्वादका ही शरण लेते, पंडित राममिश्र शास्त्री जो काशीमें विख्यात विद्वान् हुए हैं, उन्होंने अपने सुजनसम्मेलन शीर्षक व्याख्यानमें यह बराबर प्रकट कर दिया है " कि स्याद्वाद एक अभेद्य किला है जिन जिन लोकोंने इसपर लेखनी उठाई है सिवाय अपनी

अज्ञानताके और कुछ प्रकट नहीं कर सके हैं, उनकी जैनमन्तव्य पर खंडन करनेकी शक्तिको देखकर हंसी आती है, राममिश्रजीका यह लिखना कि बड़े बड़े आचार्योंने जैनमतका खंडन किया है वह ऐसा किया है जिसे देख सुनकर हंसी आती है बिल्कुल सत्य है, यदि संदेह हो तो शंकराचार्यकृत सप्तभंगीका खण्डन देख लो, प्रथम भंगका भी स्वरूप नहीं समझ सके- और खंडन सप्तभगका बतलाते हैं, क्या ही खूब—देखो अब आपको तनिक सप्तभंगीका स्वरूप समझाता हूं, दत्तचित्त होकर श्रवण करें, सप्तभगीके मूल तीन विकल्प.—

$\frac{\text{है}}{\text{अस्ति—}}$ $\frac{\text{नहीं है}}{\text{नास्ति—}}$ $\frac{\text{अकथनीय}}{\text{अवक्तव्य—}}$ जैसे किसी पुरुषके पास शुक्ति (सीप) पड़ी है उससे दूसरेने आकार पूछा, क्यों जी यह शुक्ति है? इसके उत्तरमें वह कहेगा, हां ऐसे ही $\frac{\text{है}}{\text{अस्ति-}}$ परन्तु जब को भ्रान्तिसे ऐसा कहे कि क्यों जी, यह चांदी है? तब वह उत्तर देगा कि $\frac{\text{नही}}{\text{नास्ति—}}$ नहीं, इससे यह सिद्ध

होगया कि प्रश्न करने वालोंको उत्तर देनेके लिये दो विकल्पों-की अत्यन्तावश्यकता है, या तो है, / अस्ति— या नहीं है, / नास्ति— इसके अतिरिक्त तीसरे मौन रहना / अवक्तव्य— की भी कहीं कहीं जरूरत पड़ती है, जैसे गुजरात देशसे कोई ऐसा फल लाये, जो इस देशमें कहीं कहीं होता, वह फल जिसने स्वप्नगत भी नहीं देखा था ऐसे पुरुषके पास रख दिया, और उससे यह पूछा, बतलाइये, इसका क्या नाम है ? तब वह पुरुष मौन रह जायगा अथवा अकथनीय / अवक्तव्य— को पुकार देगा अर्थात् जहां पर वस्तुस्वरूपका वर्णन नहीं हो सक्ता, वहां पर इसकी निहायत जरूरत होगी, बस सिद्ध हो गया कि कहीं "अस्ति"— ऐसा कथन—कहीं "नास्ति" ऐसा कथन—और कहीं "अवक्तव्य" ऐसा कथन भिन्न २ अपेक्षाके प्रश्नकर्त्ताके उत्तरमें होगा, यद्यपि सीपके दृष्टान्तसे पाठक समझ गये होंगे तथापि इस बातको दृढ करनेके लिये जिस मेजके सहारे मैं खड़ा हूं, इसी मेज पर तीन बातोंका समवतार करता हूं, ध्यानसे सुनें, मेज है यह अस्ति नामका

विकल्प है, मेज नहीं है, यह नास्ति नामका विकल्प है, किसी समय मेज नहीं कहा जाता, यह अवक्तव्य नामका विकल्प है एक कल्पना मात्रसे समझ लो कि संवत १९३८ के माघ शुक्ला अष्टमीको रूपचंद नामके बढई (तरखाण) ने इस मेजको टाली शीशमके काष्टसे मुल्तानमें बनाया है अब इस बात पर यदि निम्नलिखित शब्दोंमें कोई मेरेसे प्रश्न करे कि क्यों जी संवत् १९६८के माघ शुक्लाके दिन रूपचन्द नामके कारीगरने मुल्तानमें बैठकर टालीके लकडसे जो मेज बनाया था वह यही है ? तो मुझे इस जगह पर अस्ति विकल्पका अवलम्बन लेकर कहना पडेगा, हा यही है, बस तात्पर्य यह है कि जिस विशेषणसे जो वस्तु युक्त है उसका उन विशेषणोंके साथ अस्तित्व कायम करना यह प्रथम भङ्ग है बतलाइये कौन समर्थ है जो इसको काट सके, यदि दो दूना चार इस नियमको कोई काट सक्ता हो तो सप्तभंगीको भी काट सक्ता है, नान्यथा। अब दूसरा भंग इस प्रकार है–इसी मेज पर यदि कोई मेरेसे यह पूछे कि क्यों जी संवत् १९६७ के पौष वदी सप्तमीवाले दिन नानकचंद नामके मिस्तरीने अम्बालेमे बैठकर जो मेज बनाया था वह यही है ? तब नास्ति नामके दूसरे विकल्पका आलम्बन लेकर यही

कहना पड़ेगा, कि नहीं नहीं, यह मेज वह नही। इससे सिद्ध हुआ कि जिस अपेक्षाको लेकर हम वस्तुका होना मानते हैं, वह अपेक्षा वस्तुके नही होनेकी अपेक्षासे बिल्कुल पृथक् है इसलिये परस्पर विरुद्ध नही कहलाते, जैसे कि जिनदत्तके पुत्र व्रतानन्दके दृष्टान्तमें मैं कह चुका हू।

अब तीसरा अवक्तव्य इस मेजपर इस प्रकारसे लग सक्ता है, यथा विचारलो कि यह मेज है इतने अक्षर कहनेमें मुझको एक सैकिण्ड काल लगता है अब यहांपर कोई मेरेसे यह कहे कि एक सैकिण्डमें "यह मेज है" "यह मेज नहीं है" इन दोनों वाक्योंका उच्चारण कर दीजिये, तो मैं यही कहूंगा कि इतने अल्प समयमें "यह मेज है" इस वाक्यको बोल सक्ता हूं, दूसरे वाक्य को नहीं बोल सक्ता, वह कहने लगा, शर्तिया दोनों हीको साथ एक सैकिण्डमें बोल दो, तो बस इस जगहपर मुझे चुप होना पड़ेगा, बस यही अवक्तव्य हुआ। अथवा कोई यह कहे कि घन शब्दका उच्चारण इस रीतिसे करो कि यह अनुक्रम किसीको न मालूम हो कि "घ" प्रथम बोला गया, "न" पीछे बोला गया तो बस यहांपर अवक्तव्यकी शरण लेनी

पड़ेगी, देख लिया ? कैसे कैसे उत्तम आशयोंसे यह तीन विकल्प रखे गये हैं। आप पर विदित होगया और यह भी मालूम होगया होगा, कि इसको कोई भी तोड नहीं सका, सज्जनों! इन तीनके मिलनेसे सात होते हैं, और उसको सप्तभंगी कहते हैं, जैसे यहांपर तीन प्याले पड़े हैं, जिसमेंसे एक प्यालेमें दूध दूसरेमें खांड और तीसरेमें गुड रख दिया गया है, बाकीके चार प्याले खाली इनकी मिलावटके लिये रख लिये जायँ, अब इनके मेलसे सात ही प्याले बनेंगे, नाहीं ६ बन सके हैं और नाहीं ८ बन सके हैं। यथा—१ दूधका, २ खांडका, ३ गुडका, ४ दूध और खांडका, ५ दूध और गुड़का, ६ गुड और खांडका, ७ दूध खांड और गुडका, इन सातके मिश्रीभावसे कोई आठवां नहीं बन सका, बस इसी प्रकार प्रथम विकल्पमें अस्ति है, दूसरेमें नास्ति है और तीसरेमें अवक्तव्य इन तीनोंका मिश्रीभाव होनेपर नीचे मुजब सात होते हैं।

१ अस्ति, २ नास्ति, ३ अवक्तव्य, ४ अस्तिनास्ति ५ अस्ति अवक्तव्य, ६ नास्ति अवक्तव्य, ७ अस्ति नास्ति अवक्तव्य, इन सातके होनेमें जो विस्तार है वह मैं इतने अल्प समयमें नहीं

कह सकता, बस समुद्रमेंसे बिंदु निकाल कर बतलाया है। आपको भले प्रकारसे इसका तत्त्वज्ञान करना हो, तो जैन मुनियोंकी सेवा करो और जैनशास्त्रोंका अध्ययन करो आपको सम्यक्तया मालूम होजायगा, कि जैनका खण्डन न्याय पक्षसे तीन कालमें भी नहीं होसकता है, देखिये इस पर एक श्लोक सुनाता हूं।

उष्मा नार्कमपाकरोति दहनं नैव स्फुलिङ्गावली,
नाब्धिं सिंधुजलप्लवः सुरगिरिं ग्रावानवाभ्यापतत्।
एवं सर्व नयैकभावगरिमस्थानं जिनेन्द्रागमम्,
तत्तद्दर्शनसंकथांशरचना रूपं न हन्तुं क्षमः ॥१॥

अर्थः—जैसे उष्मा (भाप) सूर्यको जीत नहीं सक्की, और अग्निकी चिंगाड़ियें दावानलको पराजित नहीं कर सक्की, तथा सिन्धु नदीका वेग समुद्रके वेगको हटा नही सक्का और सुमेरु पहाडको पत्थरके टुकडे दबा नही सक्के, ऐसे सर्व नयोंके एकीभावसे महान् और संपूर्ण दर्शनोंके सदेशोंकी रचना कर युक्त श्रीजिनेन्द्रके आगमको खण्डित करनेके लिये कोई परदर्शनी समर्थ नहीं हो सकता, यदि कोई कहे कि अमुकने खण्डन किया है तो

यह कैसे कह सकते हो कि इसका खण्डन कोई नहीं कर सकता है इस पर इतना ही कथन आवश्यक होगा कि वस्तुतया वह खण्डन नहीं हो सकता, ऐसे तो बालक भी समुद्रका परिमाण हाथोंसे कर लेता है, अर्थात् हाथ चौडे कर कह देता है कि समुद्र इतना बडा है तो इससे क्या वह इतना ही परिमित समझा जायगा? कदापि नहीं, यदि कोई सूर्यको राईके दानेसे आच्छादित करना चाहे, कर सकता है? कदापि नहीं, जगत्‌के समस्त धर्म हमारे अङ्ग प्रत्यङ्गमय हैं। मात्र विचारका भेद है, जब हमारे सप्त नयोंमेंसे एक नयानुसार अन्य मतावलम्बी चल रहे हैं तो उनसे हम सम्मिलित क्यों न रहें? भेद मात्र "ही" और "भी" का है सो आपको श्रीमन्महोपाध्याय यशोविजयजी महाराजकृत अध्यात्मसारके एक ही श्लोकको सुननेसे मालूम हो जायगा, श्लोक यह है:—

बौद्धानामृजुसूत्रतो मतमभूद्वेदान्तिनां संग्रहात्।
सांख्यानां ततएव नैगमनयाद् यौगश्च वैशेषिकः
शब्द ब्रह्म विदोपि शब्दनयतः सर्वैर्नयैर्गुम्फिता॥
जैनी दृष्टिरितीह सारतरता प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्यते॥ १॥

विस्तरार्थः—इस जगत्में महानुभाव बौद्धोंका मत तीर्थ-करदेव कथित ऋजुसूत्र नामक नयसे निकला है जो कि मात्र वर्त्तमान दशाको ही स्वीकार करता है इस नयानुसारी बौद्ध लोक जगत्के समस्त पदार्थोंको क्षणविनाशी मानते हैं, जो कुछ यह चराचर जगत् दृश्यमान है वह क्षण (सूक्ष्मकाल विशेष) उपरान्त न होगा, किन्तु इसके स्थानापन्न अन्य जगत् होगा, एक दिनमें हजारह वार प्रलय (नाश) और सृष्टि (उत्पत्ति) होती रहती है यह कथन यदि कुछ रूपान्तर कर लेवें तो माना जा सक्ता है परन्तु फिर भी "ही" के भाव न होना चाहिये। जगत् क्षणविनाशी है यदि इस प्रकार "ही" की "भी" हो जाय, तो हम हमसे एक हैं क्योंकि पर्यायार्थिक नयके मतसे यह बात सिद्ध हो चुकी है कोई पदार्थ क्यों न हो, समय समयमें उसकी पर्याय परिवर्त्तन होती रहती है, जैसे इस समय वर्त्ति घटमें दूसरे समयके होने पर प्रथम समय वर्त्ति पर्यायें किसी न किसी अंशमें अवश्य परिवर्त्तन करती हैं परन्तु द्रव्य उसी तरह कायम रहता है, इस कारण द्रव्यार्थिक नय हरएक पदार्थको नित्य साबित करता है। अत. क्षणविनाशी भी है बस यदि इस

प्रकार स्याद्वाद नरेन्द्रके निष्कण्टक राज्यमें निवास किया जाय तो किसी प्रकारसे तिरस्कार नहीं हो सकता परन्तु इस राजाके राज्यमें निवास प्राप्त करनेके लिये 'श्री' नामकी महादेवीकी सेवामें सदैव तत्पर रहना चाहिये।

यदि ऐसे ही मानें कि एक समयके अनंतर पदार्थ बिलकुल निर्मूल (सर्वथा नाश) हो जाता है तो ठीक नहीं, इसलिये कि जो मेरे व्याख्यान देनेका समय था अब वह न रहा, इस अवस्थामें व्याख्यानके प्रारम्भमें जो मङ्गलाचरण किया था, वह मुझे याद न होना चाहिये परन्तु याद है, इसलिये सिद्ध होता है कि मैं वह हूं परन्तु मैं वह नहीं हूं ऐसे कहनेमें मुझे कोई उज़र नहीं, क्योंकि जब मैं व्याख्यान देनेको उपस्थित हुआ था उस समय मेरे आत्माके साथ आयुष्य कर्मकी वर्गणा, इस समयकी आयुष्य वर्गणासे एक घण्टे तक रसोदय दे सके, उतना ज्यादह थी आयुष्यमें परिवर्त्तन हुआ ऐसा ही नहीं बल्कि सात कर्मोंकी वर्गणामें भी कुछ न कुछ फेरफार अवश्य हुआ होगा। कई प्रकृतिके परमाणु मेरे आत्मप्रदेशको छोडकर अन्यत्र निवास

करने लगे होंगे और कई अन्य स्थलोंको छोड़ छोड़कर मेरे प्रदेशमें निवास कर गये होंगे, उस समय जो शब्द मेरे मुखसे निकलते थे, वह इस समय नहीं निकलते होंगे, अङ्ग प्रत्यङ्गमें परिस्पन्दात्मक क्रिया जो उस वक्त विद्यमान—मौजूद थी, इस समय न होगी, इससे यह कहना होगा कि मेरी अवस्थामें अवश्य भेद हुआ होगा, बस। "**अवस्था भेदे अवस्थावतोपि भेदः**" इस न्याय-से मैं वह न रहा ऐसा मान लूं तो कोई हानि नही, परन्तु मैं वह विल्कुल ही नहीं, ऐसे "ही" शब्द नहीं लगा सक्ता, यतः "ही" के लगानेसे मुझे पूर्वक्त कार्यवाही न मालुम होनी चाहिये और होती है, इससे मैं वह हूँ भी और नहीं भी, अर्थात् अवस्थाके परिवर्त्तनसे तो मै क्षणभगुर हूँ, पर द्रव्यार्थिक नयसे आत्मद्रव्यमें कुछ न्यूनाधिक्य नहीं हुआ जैसे किसीके गलेमें कंठी (ग्रीवाभूषण) है उसे तोड़कर उसने कड़ा बनालिया बादमें कडोरा बना लिया, यहांपर अवस्थावलम्बी पर्यायार्थिक नय इसे भले ही अनित्य मान ले, परन्तु स्वर्ण द्रव्यकी स्थिति ज्यों की त्यों कायम रहनेके कारण द्रव्यार्थिक नय इसे नित्य ही मानेगा बस ऐसे ही मैं हूं और नहीं

हूं, इन दोनों विकल्पोंके माननेसे बौद्धोंका संदेश हमसे न्यारा नहीं, हां असंदेश हमें त्याज्य है, बस सिद्ध हो गया कि बौद्ध लोग ऋजुसूत्र नयके अनुसारी हैं, जो किसी अशमें हमको सर्वथा मान्य है, और हमारे वेदांतिक भाई हमारे माने हुए संग्रह नयसे निकले हैं।

संग्रह नय सत्ताको लेकर चलता है और सर्वका ऐक्य मानता है (जैसे कि वेदान्तिक जो देखते हैं ब्रह्म ही ब्रह्म कहते हैं) सो संग्रह नयकी भी यही चाल है, जैसे किसीको कहा जावे कि तुम वनस्पति लाओ अब वह जंगलमें जो देखता है तो हजारों ही वृक्षमें उसको वनस्पति ही वनस्पति नजर आती है, अब वह जिस जगह वृक्ष देखता है, फौरन कह देता है कि यह वनस्पति है, दूसरा वृक्ष देखा तो यह भी वनस्पति ऐसे संपूर्ण वनमें पुकारता रहा, अन्तमें इस साधारण नामने ऐसा उसके अंदर असर किया कि शहरमें आगया, तो भी जिस मनुष्यको देखे यह भी वनस्पति, तात्पर्य्य—क्या मनुष्य, क्या घोड़ा और क्या बैल प्रत्येकको वनस्पतिके नामसे पुकारता रहा, बस जितना इसके कथनमें भेद है, उतना ही वेदांतियोंके कथनमें समझें, तात्पर्य्य उस पुरुषको जंगलके वृक्षोंमें सामान्य नामसे वन-

स्पतिका ज्ञान होना तो सत्य है क्योंकि वृक्षमात्रमें वनस्पतीपन रहा हुआ है परन्तु मनुष्य, पशु, पक्षी वगैरहको यह भी वनस्पति यह भी वनस्पति कहना भ्रान्ति है, इसी तरह यदि वेदान्तिक नाना आत्माओंके होने पर भी "यह भी आत्मा, यह भी आत्मा" इस प्रकारके अनुगताकारकी जननी सत्ताको लेकर बेशक एकत्व मान लेवें और "एक ब्रह्म" ऐसे कह लेवें, परन्तु "द्वितीयं नास्ति" ऐसा कह कर प्रत्यक्ष सिद्ध घट पटादिक जड पदार्थोंको भी ब्रह्ममायान्तः प्रविष्ट मान कर उनको शून्यमें स्वीकार करना ठीक नहीं, इसतरहके एकत्वको हम बराबर मानते हैं, देखिये हमारे ठाणांग सूत्रमें यह बराबर लिखा है कि "एगे आया" अर्थात् आत्मा एक है, इतना ही नहीं बल्कि जैसे वेदान्तमें कथन है ऐसा कथन भी जैनशास्त्रोंमें आता है तथाहि.—

यथातैमिरकश्चन्द्रमप्येकं मन्यते द्विधा ।
अनिश्चयकृतोन्मादस्तथात्मानमनेकधा ॥ १ ॥

अर्थ.—जैसे आंखमें किसी प्रकारके विकार वाला पुरुष एक चन्द्रमाको दो कर मानता है ऐसे अनिश्चय कर उत्पन्न हुआ है

उन्माद जिसमें ऐसा आदमी एकात्माको भी अनेकधा मानता है, देखिये इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये एक और प्रमाण सुनाता हूं—

यथैकं हेमकेयूरकुण्डलादिषु वर्त्तते ।
नृनारकादिभावेषु तथात्मैको निरंजनः ॥ १ ॥

अर्थः—जैसे वही स्वर्ण बाजूके आकारमें होजाता है और वही स्वर्ण फिर कुण्डल बनने पर कुण्डलाकार होजाता है, तात्पर्य स्वर्णके एक होनेपर भी जैसे उसके नानाकार बन जाते हैं और वह एक ही कहलाता है इसी प्रकार मनुष्य, देव, तिर्यच, नारक आदि अनेक आकारोंमें परिवर्त्तन होनेपर भी आत्मा एक ही कहलायगा और वह निरञ्जन ही रहेगा, इससे आगे और देखो तो साक्षात् ही वेदान्तका सारांश विद्यमान है यथा—

मध्यात्मे मृगतृष्णायां पयः पूरो यदेक्षते ।
तथा संयोगजः सर्गो विवेकख्याति विप्लवे ॥ २ ॥

अर्थ—जैसे ग्रीष्मऋतुमें मध्यात्म काले मृगतृष्णासे रेतीमें पानी ही पानी नजर आता है परन्तु वहा जाकर देखने पर रेती ही रेती होजाती है, इसी प्रकार संयोगजन्य संसर्ग—सुखादिक, तब

तक सत्य प्रतीत होते हैं जहां तक विवेकख्याति नहीं होती जब विवेकख्याति उत्पन्न होती है फौरन ही भ्रान्ति दूर होजाती है और निजानन्दरसमें मग्नात्मा बन जाता है।

बतलाइये अब क्या भेद रहा? भेद इतना ही है कि उनको 'ही' सहित एकत्व स्वीकार है और हम 'भी' सहित मानते हैं अर्थात् उनका कहना है कि एक 'ही' भूतात्मा है, हम कहते हैं एक 'भी' किसी प्रकार बनसक्ता है इसलिये कि यह कथन निश्चय मार्ग पर निर्भर है। यदि इसपर ही हम स्थिर हो जायँ तो व्यवहार मार्ग नष्ट होजायगा और माता, पिता, पुत्र, पत्नी, भगिनीमें भेद बुद्धिके नष्ट हो जानेसे नाना प्रकारके अनर्थ खडे होंगे इसलिये एक भी अनेक भी नयोंकी भिन्न भिन्न अवस्थासे स्वीकारनेपर कोई हानि नहीं पहुंच सकती, इतने प्रमाण देनेपर भी यदि वेदान्तिक भाई एक ही एक कहते रहें तो उनको इस बातका जवाब देना चाहिये, कि एक वेदान्तिक अच्छा पठित है वह दूसरेको वेदान्त-तत्त्व समझानेकी चेष्टा करता है बतलाइये उसका दूसरेको समझानेका परिश्रम सफल माना जाय या निष्फल? यदि श्रवणकर्त्ताके भ्रमका

नाश होनेके कारण परिश्रम सफल है ऐसे मानो तो द्वैत सिद्ध होगया एक समझाने वाला जिससे भ्रम बिलकुल दूर होगया है, दूसरा समझनेवाला जिसमें भ्रम ज्योंका त्यों कायम है, बतलाइये द्वैत हुआ या एक ? यदि एकान्तवादसे एक ही एक मान कर 'ही' को न छोडोगे, तो उपदेश व्यवस्थाका नाश होगा अत. जो उपदेश सुना रहा है वह सुनने वालोंको अपनेसे पृथक् कदापि नहीं समझ सकता, इस अवस्थामें उपदेश बिलकुल निरर्थक समझा जायगा, इसलिये निश्चय और व्यवहार दोनों नयोंको मानकर एक भी और अनेक भी के सत्य सिद्धान्त पर निश्चय कीजिये और 'ही' की जगह 'भी' बना दीजिये। आपको मालूम होगा दूधसे मक्खन कैसे निकलता है ? मथानीको फिराने वाले रस्सेके दोनों छोड़े विलोडनकर्ताके हाथमें होते हैं। वह दधिमन्थन करनेके समय एकको ढीला छोडता है दूसरेको खींचता है फिर दूसरेको ढीला रखता है प्रथमको खींचता है यदि दोनों ही छोडें अपनी तरफ खींचता रहें तो मक्खनकी आशा कभी पूर्ण नहीं हो सकती, बस यही दृष्टान्त तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें व्यवहार और निश्चयपर चरितार्थ

होता है दूसरा प्रमाण द्वैतकी सिद्धिमें यह है:—

हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेदद्वैतं स्याद्धेतु साध्ययोः ।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किं ॥ १ ॥

भावार्थ—यदि हेतुसे अद्वैतसिद्धि मान ली जाय तो हेतु और साध्य इन दोनोंके माननेसे जिस द्वैतकी जड उडानी थी उसीको पानी मिला, जिससे अधिक प्रफुल्लित हुई, यदि बिना ही हेतुके (प्रमाणके) अद्वैत मानोंगे तो द्वैत ही वचन मात्रसे क्यों नहीं मान लेते ? बस अब यह स्पष्ट हो गया कि हमारे संग्रह नयकी व्याख्या परसे वेदान्तदर्शनका निर्गमन हुआ है, और इसी संग्रह नयसे ही साङ्ख्यदर्शन उत्पन्न हुआ है इसलिये वह हमसे पृथक् नही, यदि पृथक् है तो 'ही' के कारणसे समझें, सांख्योंका कथन है कि "प्रकृति कर्त्री पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेप." अर्थात् प्रकृतिको ही कर्त्री समझना चाहिये आत्मा कमलकी तरह निर्लेप है । इसी बातको लेकर न्याय विशारद वाचकवर्य्य यशोविजयजी महाराज अध्यात्मसारमें वर्णन करते हैं—

न कर्त्ता नापि भोक्तात्मा कापिलानां तु दर्शने ।

जन्मधर्माश्रयो नायं प्रकृति. परिणामिनी ॥ १ ॥

यह कथन ठीक संग्रह नयमें आसक्ता है इसलिये कि संग्रह-नय सत्ताग्राहक है, इसी सत्ताकी अपेक्षा वह निखिल आत्माओंको एक मानता है, इस रीत्यनुसार जैसी सिद्ध भगवान् (मुक्तात्मा) की आत्मा, वैसे ही हमारी है क्योंकि सत्तामें कुछ भेद नहीं है इस न्यायसे सांख्योंका कथन ठीक है परन्तु अपेक्षाके विना समझे इनकी ही "ही" इनके मन्तव्यको कायम नहीं रहने देती, इनसे यह पूछा जावे कि यदि आप आत्माको सर्वथा ही निर्मल मानते है तो फिर मुक्ति और संसार यह दो भेद क्यों माने गये और जब आत्मा बन्धनमें ही नहीं, तो मुक्त कहांसे होगा जो आप भी मानते हैं, यदि कहोगे कि कर्त्ता भोक्ता मोक्ता यह धर्मप्रकृतिके ही है, आत्मामें नहीं, मात्र उपचारसे आत्मामें मोक्ष मान लेंगे तो यह कथन भी ठीक न होगा, देखिये इस पर कुछ विचार करते हैं:—

कृतिर्भोगश्च बुद्धेश्चेद्बन्धो मोक्षश्च नात्मनः ।
ततश्चात्मानमुद्दिश्य कूटमेतद्यदुच्यते ॥ १ ॥
पंचविंशति तत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमेरतः ।

जटी मुण्डी शिखोचापि मुच्यते नात्र संशयः ॥२॥

अर्थ–यदि कर्त्ता (कर्त्री) हर्ता (हर्त्री) बुद्धिको ही मानते हों तो फिर आत्माको उद्देशमें रखकर आपका यह कहना कि चाहे किसी आश्रममें हो चाहे शिखाधारी हो, चाहे मुंडित हो चाहे जटाधारी हो, सांख्यके प्रकृति प्रधान अहंकारादि पच्चीस तत्वोंके जाननेसे बन्धनसे मुक्त हो जाता है कैसे योग्य हो सकेगा ? अच्छा यह तो बतलावें कि जिस बुद्धिको आप कर्त्री अथवा भोक्त्री मानते हैं वह नित्य है या अनित्य है ? यदि नित्य है तो बस उसके निरन्तरके सामीप्यसे आत्माकी कदापि मुक्ति न होगी, यदि अनित्य है तो उसके पूर्वकालमें संसारका अभाव सिद्ध हुआ, अन्योंने भी ऐसे ही लिखा है, यथा विश्वनाथन्यायपञ्चानन भट्टाचार्य्य अपनी बनाई हुई सिद्धान्तमुक्तावली नामक टीकामें लिखते हैं कि–

" बुद्धेनित्यत्वे मोक्षाभावोऽनित्यत्वे तत्पूर्वसंसा-
रापत्तिः "

तात्पर्य वही है जो ऊपर कह चुका हूं, इस प्रकारके अनेक दूषण एकान्तवादमें रहते हैं, यदि वह अनेकान्तवादमें प्रवेश

करलेवें और 'ही' को त्यागकर 'भी' का आलम्बन ले लेवें, बस फिर हम उनकी भली प्रकारसे अस्मद्रूप मान सकते है।

बेशक संग्रहनयको अथवा निश्चय नयको मानकर हमारे सांख्य बांधव आत्माको स्फटिक तुल्य निर्मल माने परन्तु यह न कहें कि संसारी आत्मा भी सर्वथा निर्मल है, क्योंकि ऋजुसूत्रादिक नय और व्यवहारादिक नय इस बातको कभी स्वीकार न करेंगे, तो क्या इनमेंसे हम किसी एकको झूठा कह सकते हैं? कदापि नहीं, देखिये हम जानते हैं कि शुद्ध स्वर्णमें और खाणमें रहे हुए स्वर्णमें सत्तापेक्षया कुच्छ भेद नहीं, परन्तु उसके ऊपरकी मिट्टीको जब तक न उतारें खानिका सोना निर्मल कैसे कहला सकता है, बस यही दृष्टांत मुक्तात्मा और संसारी जीव पर चरितार्थ होता है, इसलिये व्यवहारादिसे इसे मलीन समझकर शुद्ध बनाना चाहिये, हमारे श्रोतृगण समझ गये होंगे, कि सांख्योंका मानना 'कथंचित हमारे संग्रह नयमें समावेशित है, अब नैयायिक दर्शन पर विचार करते हैं तो वह हमारे नैगम नयसे उत्पन्न हुआ है, यह लोक ईश्वरकर्त्ता पर विशेष जोर लगाते हैं, सो नैगमनय किसी अंशमें

इस विषयको अपनेमें उतार सकता है, अतः वह लोक यदि 'ही' का 'भी'में परिवर्त्तन कर देवें, तो हम कथंचित् इनसे भी सहमत हो सकते हैं, नैगमनयाभासमें इनका समावेश है, सो भी धर्म धर्मीका एकान्त भेद माननेके ही कारणसे यदि कथंचित् भेदाभेद दोनों मानते तो यह प्रथक् कभी न कहलाते, और ऐसे ही यदि कथंचित् ईश्वरकर्तृत्वके सिद्धान्तको स्वीकारते तो नैगमकी रीतिपर स्वीकारा जाता, तथा ही नैगम नय भविष्यत् अवस्थाको भूत कालमें मान सक्ता है, इस प्रकार जो महावीरस्वामी चरम शरीरमें ईश्वर कहलाये, वह संसारावस्थामें भी ईश्वर ठहरे, उन्होंनें अनन्त शरीरोंको कर्म द्वारा उत्पन्न किया और आयुष्कर्मके प्रान्तमें छोडा इस कारण वह संसारके कर्ता हर्ता दोनों ही सिद्ध हुए, और ईश्वरत्व उनमें बराबर विद्यमान था, इस प्रकार ईश्वरमें कर्तृत्व माना जाय तो कोई हानि नहीं, परन्तु इस चराचर संपूर्ण जगत्का निर्माण और प्रलय कर देना युक्तिशून्य है, मात्र हमारे जैन भाइयोंका ही यह कथन है ऐसा मत समझें, इस पर महात्मा कृष्णजी भी अपनी बनाई हुई भागवत गीताके अ० ५—श्लो०

में लिखते हैं—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति विभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥ १ ॥

अर्थ—जगतकर्त्ता परमात्मा नही है लोकोंके कर्मोंका रचयिता परमात्मा नहीं है और नहीं कर्मफलदाता है किन्तु स्वभाव अर्थात् वासना जिसको हम लोक कर्म कहते हैं, उसीकी ही प्रवृत्ति है, अर्थात् सब बातें चेतन और कर्मद्वारा हुई हैं, होरही हैं और होंगी, देखिये कृष्णजीने कैसा निर्पक्ष कथन किया है यदि कोई कहें कि कर्म जड़ हैं अतः कुछ नहीं कर सक्ते, तो उनका कथन सर्वथा अनुचित है, जड़में सुख और दु.ख पहुंचानेकी शक्ति बराबर देखी जाती है जैसे जड़ संखिया अफीम वगैरह खानेवालेके प्राणोंका हरण कर स्वत आत्माको असह्य कष्ट पहुंचाते हैं, जड ब्राह्मी बूटी बुद्धि-को बढाती है, जड़ अन्न खानेवालेको सुख देता हुआ शरीरका रक्षण करता है, जड भूख थोडे ही कालमें यदि अन्न न मिले तो प्राणोंका हरण कर लेती है । जड ही औषधि चेतनको अनेकानेक लाभ पहुंचा सक्ती है, जड़ ही औषधि यदि प्रतिकूल हों, तो क्षण

में आत्मशरीरका वियोग कर डालती है, तव हम कैसे कह सकते हैं कि जड़ कुछ नहीं कर सकता, हां यह बात जरूर है कि वह जड़ स्वतः उडकर हानि लाभ नही पहुंचा सक्ती, जब तक चेतन ग्रहण न करे, सो तो हम मानते ही हैं कि जब तक चेतन शुभाशुभ अभिप्रायसे कर्मोंको आत्माके साथ लोलीभूत न करे, तब तक वह शुभाशुभ कर्म अपने शुभाशुभ परिणामको प्रकट नहीं कर सक्ते हैं, फिर ईश्वरको अन्तर्गत मानकर उसको कलङ्कित करना क्या बुद्धिमानोंका कार्य्य है ? देखिये, यदि ईश्वरको फलप्रदाता मान लिया जाय, तो भी जीवको कर्म करनेमें स्वतन्त्र मानना ही पड़ता है, क्योंकि ईश्वर जीवोंको कर्म भी करवावे और दंड भी देवे, यह बात असमञ्जस है। अतएव कई महानुभावोंका यह मानना भी प्रकटमें आ रहा है कि जीव कर्म करनेमें स्वतत्र है और भोगनेमें परतंत्र है, अर्थात् ईश्वराधीन है, परन्तु इस बातमे कोई प्रमाण आज तक वे लोक प्रकट नही कर सके हैं, सुनिये जैसे कोई घातक (कसाई) अपनी निर्दयताके कारण सहस्र पशुओंकी ग्रीवा (गला) छेदन कर रहा है उस समय उन गौ आदिक पशुओंको जो असह्य कष्ट हो

रहा है, कोई कर्मसिद्धान्ती यह न कहेगा कि उनके पूर्व जन्मके किये हुए बुरे कर्मका यह परिणाम नहीं है, क्योंकि यह सिद्धान्त ईश्वरकर्तृत्व वादियोंके महर्षि स्वामी दयानन्दजीने भी सत्यार्थप्रकाशके द्वादश समुल्लासमें स्वीकार किया है, दुःख पाप कर्मका परिणाम और सुख पुण्यका परिणाम है, अब यहां मात्र इतना ही प्रष्टव्य है कि जो २ गौ आदिक पशु घातकके हाथसे ग्रीवा छेदनसे तीव्र वेदना सहते हैं वह पूर्व जन्मोपार्जित बुरे कर्मका दुःख रूप फल पाते हैं, बतलाइये अब उस दुःख रूप फलका देनेवाला घातक (कसाई) हुआ क्या ईश्वर ? सत्यार्थप्रकाशके द्वादश समुल्लासके सफा ४४१ (जहांसे आस्तिक नास्तिक संवाद प्रारम्भ है) के देखनेसे तो यही स्पष्ट होता है कि उन गौ आदिक पशुओंको ईश्वर कष्ट पहुंचाता है, क्योंकि स्वामीजीने यह साफ कर दिया है कि जीव अपने आप बुरे कर्मका नतीजा दुःख पाना नही चाहते, यथा चोर स्वतः कारागृहमें प्रवेश नही करता, अतः ईश्वर देता है, इस रीत्यनुसार घातक ईश्वरकी प्रेरणासे जीवोंको मारता है तब घातक करनेमें स्वतन्त्र न रहा और ईश्वरकी आज्ञासे कार्य्य करता है। अतः पापी भी न सिद्ध हुआ

इस रीत्यनुसार जगतमें जितने प्राणी दूसरोंको दुख देनेवाले हैं, ईश्वर प्रेरित सिद्ध हुए और करनेमें स्वतंत्रवाले सिद्धान्तकी जडको लेखनी-ने कुल्हाडी बनकर काट डाला, यदि यह कहोंगे कि जिनने जितने दुष्ट प्राणी दूसरे जीवोंको दुःख देते हैं उन उनमें ईश्वरकी प्रेरणा नहीं है, तो अपने शास्त्रोंमेंसे इस सिद्धान्तको उडा दीजिये कि जैसे चोर चोरी कर खुद कारागृहमे नहीं जाते, ऐसे ही जीव अपने आप बुरे कर्मोंका नतीजा दुःख पाना नहीं चाहते इसलिये ईश्वर फलप्रदाता होना चाहिये, यदि इस सिद्धान्तको नही छोड़ना है तो यह कह दीजिये, कि गौ आदि पशुओंके प्राण हरण करने वाला कसाई ईश्वरकी प्रेरणासे उनको प्राणहरणरूप असह्य कष्ट पहुंचाता है, इसलिये कि दुःख पाप कर्मका परिणाम है, सो ईश्वर ही देगा अन्यथा वह फलप्रदाता नही हो सक्ता, ऐसे दो विकल्पों-मेंसे किसी एक का स्वीकार अवश्य करना ही पड़ेगा, यदि पूर्व के विकल्पको स्वीकार करते हैं तो जैन बनते हैं, यदि उत्तरका स्वीकार करते हैं, उत्तर नही दे सक्के, अत यहा पर व्याघ्रतटिनी न्याय समुपस्थित है, कहीं भी जा नही सक्के, इसलिये हम सर्वथा

ईश्वरकर्तृत्वके सिद्धान्तको रद्द करते हैं। दूसरा निराकार पदार्थ किसी आकार वालेको उत्पन्न नहीं कर सक्ता, इसलिये भी हम इससे हटे हुए हैं। यदि साकार जीवनमुक्तपदविभूषित ईश्वरको हम कतिपय कार्योंका कर्त्ता मानें तो कोई हानि नहीं इस संदेश के स्वीकारसे नैयायिक भी हमारेमें सम्मिलित हैं। कतिपय महानुभाव इस बातसे चकित हुए होंगे कि हमारेमें यह भेद कैसे हो सक्ता है, सो चकित न हूजिये, देखो, मैं सुनाता हूं—जीवनमुक्त अवस्थामें जिनेन्द्रदेवने हम पर इतने इतने भारी उपकार किये हैं जिनकी सीमा हमसे कदापि नहीं हो सक्ती, द्वादशांगी वाणी हमारे उद्धारके लिए अपने मुखारविन्दसे प्रकट की जिसके प्रबल प्रभावसे अनेक जीव शुभक्रिया द्वारा आत्माको पाश रूप असंख्य कर्म प्रकृतियोंके बन्धनोंको तोडताडकर मोक्षारूढ हुए। देखिये, अब उस जीवनमुक्त महावीर परमात्माको मुक्तिरूप फल प्रदाता और उपदेश देनेसे हितकर्त्ता द्वादशांगी वाणीके कथनकर्त्ता अशुभ कर्मोंसे मुक्तिके प्रलयकर्त्ता आदि आदि अनेक विशेषण हम दे सकते हैं, और साकारके लिये यह सर्व सत्य है, परन्तु यह बातें निराकारसे नहीं बन

सक्ती। इस साकार और निराकार दोनों अवस्थाके स्वीकारमें कतिपय कार्य कर्तृत्व ईश्वरमें हैं भी और नहीं भी हैं। इस स्थानपर भी हम 'भी' को नहीं छोड़ सकते—इसी प्रकार यदि नैयायिक दर्शन सर्वथा कथनको छोड़ कर कथंचित्का आलम्बन लेवें और 'ही' का परिवर्तन 'भी' में कर डाले तो बस फिर हम और वह एक हैं इससे स्पष्ट हो गया कि यह लोक हमारे नैगमनयसे निकले हैं॥

वैशेषिक दर्शनकी न्यायदर्शनके साथ समानता है क्योंकि न्यायदर्शनवत् यह भी धर्मी और धर्मका ऐकान्त भेद मानता है ईश्वर कर्ता मानता है। इसलिये नैयायिक दर्शन पर जो विचार किया, वह ही इस दर्शनके नैगमनयसे निकलनेमें और 'ही' 'भी' के भेदसम्बन्धमें समझ लेना।

शब्द नय पर जैसे व्याख्या देखनेमें आती है ऐसे ही मीमांसकोंका विचार देखकर हम यकीन करते हैं कि मीमांसकदर्शन हमारे माने हुए शब्द नयसे निकला है इसपर विशेष विवेचन मैं अवश्य करता, परन्तु श्रोतागण अब शान्त होगये होंगे समय बहुत लिया गया है इसलिये इतना ही कथन योग्य होगा कि इनका

मन्तव्य भी "ही" के साथ हमको पसन्द नहीं है—यदि "भी" के साथ होजाय, तो कोई हानि नहीं* यथा मीमांसक लोक कर्मको प्रधान मानते हैं, जैसे कि " कर्मेति मीमांसकाः " इस हनुमान नाटकके तृतीय पादके वचनसे सिद्ध है, इस विषयमें हमारा मीमांसकोंके साथ इतना ही भेद है कि वह लोक कर्म ही प्रधान कहते हैं, हम कर्म भी प्रधान हैं ऐसा कहते हैं क्योंकि यह कथन युक्तिसिद्ध है और जैनशास्त्र कथित है। जिनेन्द्रजीका कथन है कि—

कथंचित् जीव बलवान् है और कथंचित् कर्म अर्थात् अज्ञानियोंमें कर्म प्रधान है और ज्ञानियोंमें जीव, जब मूर्ख आदमियोंने मिलकर किसी किलेको तोडना है और उस कार्यमें उनकी मति प्रविष्ट नहीं होसक्ती, तत्काल वह गभरा कर कह देते हैं कि किला बहुत बलवान् है कदापि टूट नहीं सक्ता उनके सामने किला बलवान है, परन्तु जिनको इसके तोडनेका सम्यग्ज्ञान है उनके आगे किला कमजोर और तोड़नेवाले बलवान हैं. बस यही दृष्टांत यहां चरितार्थ है, अब सम्पूर्ण व्याख्यानका उपसंहार (सारांश) यह हुआ

* हिंसक कर्मोंको छोड़कर समझना।

कि समस्त दर्शन जैनमें है परन्तु जैनत्व उन २ परदर्शनोंमें नहीं है जैसे बिखरे हुए मोतियोंमें मालाका व्यवहार नहीं हो सकता, परन्तु मालामें मौक्तिक व्यवहृत है, अथवा एक जनरेली सड़कमें सब छोटी २ सड़के मिलजाती हैं परन्तु जनरेली सड़के छोटी २ सड़कोंमें नहीं मिलतीं अब आपको भली प्रकारसे मालूम हो गया होगा कि वेदान्तादिक मार्ग 'ही' की प्रणालिकामें चलते हैं और जैन धर्म " भी " की प्रणालिकामें है, जिसमें कलङ्करूप मलके सर्वथा न होनेके कारण यह प्रणालिका बहुत निर्मल है, देखिये आज मैंने किसी भी मतका पक्ष नहीं किया है परन्तु फिर भी यदि इस निर्पक्ष कथनको सुनकर किसीको उपकारके बदलेमें अपकार मालूम होकर उनको इसमें अपने कदाग्रहको ही कारणीभूत समझना चाहिये, कदाग्रह ऐसी वस्तु है कि मनुष्यको गलेसे पकड़ लेती है और तत्वज्ञानरूप रसवतीको नीचे उतारने नहीं देती, इस पर यशोविजयजी उपाध्याय महाराज कृत श्लोक सुनाता हूं।

स्थालं स्वबुद्धि स्सुगुरोश्चदातुः

रूपस्थिता काचनमोदकाली ॥
असद्ग्रहः कापिगले गृहीता ।
तथापि भोक्तुं न ददाति दुष्टः ॥ ७ ॥

अर्थ-निज बुद्धिरूप स्थालमें परोपकारी सद्गुरु महाराज सुयुक्तिरूप मोदक देनेको उपस्थित हुए हैं, परन्तु गलेसे पकड़नेवाला वह दुष्ट असद्ग्रह (कदाग्रह) उस विचारेको खाने नहीं देता। प्रिय मित्रो! इस दुष्ट कदाग्रहके वशमें आकार कई लोक इस जैनधर्म पर द्वेष रखते हैं और कहते हैं कि जैनियोंके पास हम इसलिए नहीं आते कि हमारे मतका खण्डन करते हैं अथवा इनकी पुस्तकोंमें बहुत स्थान पर हमारा खण्डन है इत्यादि, परन्तु इनका यह विचार बिलकुल असमञ्जस है, इसलिये कि जगतमें षड्दर्शनरूप जो जो मत हैं उनसे हम कहां तक मिलते जुलते हैं, इस विषयमें मैं पूर्व बहुत कुछ कह चुका हूं, इसलिये पुनरावृत्ति करनेसे कोई लाभ नहीं, परन्तु यह अवश्य कहूंगा कि हम खंडन किसी शाखाका नहीं करते हैं, क्योंकि कोई शाखा हमारे हस्त हैं, कोई अंगुलियें हैं, कोई नाक है, कोई कान है, कोई नाखून हैं, और